॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

—*—

मुनियों का भरत से प्रश्न—

भरतस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छुर्मुनयस्ततः ।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम् ॥ १ ॥

भरत मुनि के वचनों को सुनकर मुनियों ने उनसे कहा कि हे भगवन् ! हम रंगस्थल में किये जाने वाले यज्ञ के विषय में सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

अथ वा याः क्रियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम् ।
भविष्यद्भिर्नरैः कार्यं कथं तन्नाटचवेश्मनि ॥ २ ॥

अथवा (रंगस्थल में किये जाने वाले यज्ञ के पहले) उस (नाट्यशाला) में जो क्रियाएँ विधीयमान हो, तथा जिस लक्षण का पूजन हो उसे आगामी पीढ़ियाँ कैसे करें, (यह बतलाने की कृपा करें।) ॥ २ ॥

इहादिर्नाट्ययोगस्य नाट्यमण्डप एव हि ।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

(क्योंकि) नाट्ययोजना का मूलतत्त्व नाट्यमण्डप है, अतः आपको सर्वप्रथम उसका लक्षण ही बताना चाहिये ॥ ३ ॥

भरतमुनि द्वारा मुनियों के प्रश्न के उत्तर में नाट्यमण्डप की पूजनविधि का वर्णन—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत् ।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः ॥ ४ ॥

उन मुनियों के इस कथन को सुनकर भरतमुनि ने कहा—आप लोग नाट्यमण्डप के लक्षण एवं पूजनविधि को सुनिये ॥ ४ ॥

दिव्यानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
(यथाभावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषाः ॥)
नराणां यत्नतः कार्या लक्षणाभिहिताः क्रियाः ॥ ५ ॥

देवताओं के गृहों एवं उपवनों में जो सृष्टि होती है वह मानसिक होती है। [पर मनुष्यों के जो भाव (गृहादि सृष्टि) हैं वह सब जैसे (दृश्यमान) होते हैं, वैसे ही विधिपूर्वक बनाये जाते हैं।] अतः मनुष्यों को शास्त्र में कही हुई क्रियायें प्रयासपूर्वक सम्पन्न करनी होती हैं ॥ ५ ॥

श्रूयतां तद्यथा यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः।
तस्य वास्तु च पूजा च यथा योज्या प्रयत्नतः ॥ ६ ॥

अतः जिस स्थल पर एवं जिस विधि से नाट्यमण्डप की रचना करनी चाहिए उसकी तथा उस (नाट्यमण्डप) की गृहनिर्माण विधि तथा तदनुकूल पूजादि करने की विधि को ध्यानपूर्वक सुनो ॥ ६ ॥

नाट्यमण्डप के तीन भेद—

इह प्रेक्षागृहं दृष्टा धीमता विश्वकर्मणा।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः ॥ ७ ॥

यहाँ प्रेक्षागृह (की रचनाविधि) को देखकर बुद्धिशाली विश्वकर्मा ने शास्त्र के अनुकूल उसके तीन प्रकार के आकार की कल्पना की ॥ ७ ॥

त्रिविध नाट्यमण्डपों के त्रिविध परिमाण—

विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् ॥ ८ ॥

(विश्वकर्मा की कल्पनानुसार) मण्डप आयताकार, वर्गाकार और त्रिभुजाकार होता है। उन (त्रिविध मण्डपों अर्थात् प्रेक्षागृहों) के ज्येष्ठ, मध्यम एवं अवर यह तीन परिमाण होते हैं ॥ ८ ॥

प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्।
शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वात्रिंशदेव च ॥ ९ ॥

इन (त्रिविध मण्डपों) का परिमाण हस्त एवं दण्ड[1] पर आधारित है। परिमाण एक सौ आठ अथवा चौंसठ अथवा बत्तीस हस्त होता है ॥ ९ ॥

ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ नाट्यमण्डप का परिणाम—

अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं, चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते ॥ १० ॥

एक सौ आठ हस्त (हस्त के परिमाण) का ज्येष्ठ, चौंसठ (हस्त) का मध्यम एवं बत्तीस हस्त का (नाट्यमण्डप) कनिष्ठ माना जाता है ॥ १० ॥

---

१. हस्त एवं दण्डादि माप की इकाइयाँ हैं। आगे भरत ने माप की अन्य इकाइयों का उल्लेख करते हुए स्वयं स्पष्ट किया है कि हस्तादि का क्या प्रमाण है।

देव, नृप, मानव आदि के लिए त्रिविध नाट्यमण्डप—

देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत् ।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते ॥ ११ ॥

देवताओं का (प्रेक्षागृह) ज्येष्ठ होता है। राजाओं का मध्य होता है एवं अन्य सामान्यजन के लिए कनीय (नाट्यमण्डप) विहित किया जाता है ॥ ११ ॥

मध्य नाट्यमण्डप की श्रेष्ठता—

(प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम् ।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ॥)

(इन प्रेक्षागृहों में मध्यम प्रेक्षागृह सर्वोत्तम होता है, क्योंकि उसमें जो कुछ (कथोपकथन) पढ़ा जाता है एवं जो (गानादि) गाए जाते हैं वह सरलतापूर्वक सुनाई देते हैं।

त्रिविध नाटयमण्डपों के त्रिविध आकार—

(प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥)

समस्त प्रेक्षागृहों की तीन प्रकार की विधि होती हैं, (जिसके अनुसार) प्रयोक्ता गण उन्हें विकृष्ट (आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार) एवं त्र्यस्त्र (त्रिकोणाकार) रूप मानते हैं।

• त्रिविध नाट्यमण्डपों का परिमाण—

(कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः ॥)

नाट्यवेद के प्रयोक्ताओं के मतानुसार सबसे छोटे को त्र्यस्र एवं मध्यमाकार वाले को चतुरस्र एवं सबसे बड़े (प्रेक्षागृह) को विकृष्ट कहा जाता है।[1])

---

१. इस श्लोक एवं इसके पूर्ववर्ती श्लोक समुदाय के द्वारा भरतमुनि ने नाट्यगृह के आकार पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

नाट्यगृह का त्रिविध विभाजन आकारपरक है। इस दृष्टि से प्रेक्षागृह के तीन प्रकार किए गए हैं—(१) विकृष्ट; (२) चतुरस्र, (३) त्र्यस्र। हस्तपरिमाण के आधार पर भी प्रेक्षागृह के तीन भेद माने गए हैं—(१) ज्येष्ठ, (२) मध्यम, और (३) कनीय।

कुछ व्याख्याकारों के मत में प्रेक्षागृहों के भेद के यह उभय प्रकार एक ही हैं। इस तरह ज्येष्ठ = विकृष्ट, मध्यम = चतुरस्र एवं अवर = त्र्यस्र।

किन्तु अभिनवगुप्ताचार्य के मत में यह धारणा अमान्य है। उनके कथनानुसार कुछ लोगों का यह कहना कि विकृष्टादि ही क्रमशः ज्येष्ठादि हैं, उपयुक्त नहीं है। अपितु यह कथन सत्य है कि इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं और सब मिलाकर नौ भेद होते हैं। (एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि इति केचित्, अन्ये तु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवेतेऽत्र भेदा इत्याहुः, एतदेव युक्तम्)। इन नवविध मण्डपों की नाप भी दो प्रकार की हैं—हस्तात्मक एवं दण्डात्मक। इस तरह से प्रेक्षागृहों के अष्टादश रूप सिद्ध होते हैं, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

१. ज्येष्ठ विकृष्ट	(हस्तप्रमाण)	(देवतार्थ)
२. ज्येष्ठ चतुरस्र	(,,)	(,,)
३. ज्येष्ठ त्र्यस्र	(,,)	(,,)
४. मध्यम विकृष्ट	(,,)	(नृपार्थ)
५. मध्यम चतुरस्र	(,,)	(,,)
६. मध्यम त्र्यस्र	(,,)	(,,)
७. कनीय विकृष्ट	(,,)	(लोकार्थ)
८. कनीय चतुरस्र	(,,)	(,,)
९. कनीय त्र्यस्र	(,,)	(,,)
१०. ज्येष्ठ विकृष्ट	(दण्डप्रमाण)	(देवतार्थ)
११. ज्येष्ठ चतुरस्र	(,,)	(,,)
१२. ज्येष्ठ त्र्यस्र	(,,)	(,,)
१३. मध्मम विकृष्ट	(,,)	(नृपार्थ)
१४. मध्यम चतुरस्र	(,,)	(,,)
१५. मध्यम त्र्यस्र	(,,)	(,,)
१६. कनीय विकृष्ट	(,,)	(लोकार्थ)
१७. कनीय चतुरस्र	(,,)	(,,)
१८. कनीय त्र्यस्र	(,,)	(,,)

यहाँ पर जिन हस्त एवं दण्डप्रमाणों का उल्लेख हुआ है वह प्रेक्षागृह की एक भुजा के वाचक हैं। इनसे चतुरस्र एवं त्र्यस्र प्रेक्षागृहों का परिमाण जानने में तो कोई बाधा नहीं होती किन्तु विकृष्ट प्रेक्षागृह के विषय में संदेह निवारण नहीं हो पाता क्योंकि उसकी चारों भुजाएँ एक समान नहीं होतीं। इस शंका का समाधान आगे सत्रहवें श्लोक में जाकर हो जाता है—जहाँ मनुष्यों के विकृष्ट प्रेक्षागृह की भुजाओं का अनुपात, २ : १ दिया गया है। यदि इसी अनुपात को अन्यत्र भी प्रयुज्य समझा जाए तो यह प्रयास कुतर्क नहीं होगा।

प्रेक्षागृहों की माप के प्रमाण (बाँट)—

प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत॥ १२॥

विश्वकर्मा ने (इन त्रिविध प्रेक्षागृहों का) जो प्रमाण एवं लक्षण तय किया है उसे भी अच्छी तरह जान लो[1]॥ १२॥

अणू रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा।
अङ्गुलं च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः॥ १३॥

१. अणु, २. रज, ३. बाल, ४. लिक्षा, ५. यूका, ६. जौ, ७. अंगुल, ८. हस्त, एवं ९. दण्ड (प्रमाणों के यह प्रकार) कहे जाते हैं॥ १३॥

अणवोष्टौ रजः प्रोक्तं, तान्यष्टौ वाल उच्यते।
वालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा, यूका लिक्षाष्टकं भवेत्॥ १४॥

आठ 'अणु' के संयोग को 'रज' कहते हैं, वे आठ (रज) मिलकर 'बाल' कहे जाते हैं, आठ बालों की एक 'लिक्षा' (लीख) होती है और आठ लिक्षाओं को मिलाकर एक 'यूका' (जूं) होती है॥ १४॥

यूकास्त्वष्टौ यवो ज्ञेयो, यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम्।
अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशतिरुच्यते॥ १५॥

आठ 'यूका' का एक 'यव' जानना चाहिए और आठ यव का एक 'अंगुल' होता है। एवं चौबीस अंगुलों का एक 'हस्त' होता है॥ १५॥

चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः।
अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम्॥ १६॥

परिमाण की दृष्टि से चार 'हस्त' का एक 'दण्ड' कहा गया है। इसी प्रमाण (के मापदण्ड) से मैं इन (प्रेक्षागृहों) के निर्णय को बतलाऊँगा॥ १६॥

---

१. माप की एकरूपता न होने से अनर्थ होने की आशंका है। हस्तों एवं दण्डों के नाप साधारणतः भिन्न भिन्न होते हैं अतः विविध नाप वाले हस्त एवं दण्डों को पैमाना बनाकर बने प्रेक्षागृह भी एक समान नहीं होंगे। इस वैभिन्न्य की आशंका के निर्मूलन हेतु भरतमुनि ने प्रमाणों का एक स्तर तय कर दिया है। परिमाणों का यह विभाजन अपनी सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता के लिए आज भी स्तुत्य है। अभिनव-गुप्त के मत में यहाँ अणु से तात्पर्य सामान्यतया प्रसिद्ध अणु (परमाणु) अर्थात् द्वयणुक प्रमाण से न होकर, जहाँ से दृश्यता प्रारम्भ होती है, उस त्र्यणुक 'अणु' से है।

मध्यम नाट्यमण्डप का परिमाण—

चतु:षष्टिकरान्कुर्याद्दीर्घत्वेन तु मण्डपम् ।
द्वात्रिंशतं च विस्तारान्मर्त्यानां यो भवेदिह ॥ १७ ॥

इनमें जो (प्रेक्षागृह) मनुष्यों के लिए है उसकी लम्बाई चौंसठ हस्त एवं चौड़ाई बत्तीस हस्त की रखी जाए[1] ॥ १७ ॥

विशाल नाट्यमण्डप के दोष—

अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति ॥ १८ ॥

(नाट्यमण्डप की रचना) करने वाले व्यक्तियों को चाहिए कि इससे अधिक बड़ा नाट्यमण्डप न बनाएँ क्योंकि वहाँ (बड़े मण्डप में) नाट्य की अभिव्यक्ति अस्पष्ट रह जाएगी ॥ १८ ॥

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम् ।
अनिस्सरणधर्मत्वाद्विस्वरत्वं भृशं व्रजेत् ॥ १९ ॥

(दण्डप्रमाण ज्येष्ठादि) विप्रकृष्ट मण्डप में ऊँचे स्वर से किया गया उच्चारण (मण्डप में से) शीघ्र न निकल पाने के कारण[2] अत्यधिक विस्वर हो जाता

---

१. इसके द्वारा विकृष्ट मध्यम मण्डप का संकेत किया गया है क्योंकि इस मण्डप की भुजाओं की असमानता के कारण अन्य मण्डपों की भाँति एक भुजा के प्रमाणज्ञान से अन्य भुजाओं के परिमाण का बोध नहीं हो पाता है ।

२. अनिस्सरणधर्मत्वाद्—अभिनवगुप्त के मत में इसका अर्थ है पास वाले दूसरे शब्द की उत्पत्तिरूप निस्सरण धर्म जहाँ न हो (शब्दान्तरस्य प्रसराभावादित्यर्थः) अर्थात् अत्यन्त दूरी के कारण शब्द का प्रसार न होने से पाठ विस्वर हो जाता है ।

किन्तु इसका अर्थ यह करना असंगत नहीं कि 'अनिःसरण' द्वारा वाणी के मण्डप से बाहर न जाने की ओर संकेत है । ज्येष्ठ विप्रकृष्ट मण्डप भुजाओं की विशालता के ही अनुपात में भी होगा और तब उस बृहदाकार भवन में उच्च स्वर से यदि पाठ किया जायेगा तो ध्वनि इतने बड़े मण्डप में शीघ्र ही बाहर नहीं निकल पायेगी । फलस्वरूप अनुरणनात्मक गूंज सुनाई पड़ती रहेगी एवं इसी गूंज के मध्य आगामी उच्चारणों का क्रम चलते रहने पर शब्दों का स्वर विकृत होकर कुछ का कुछ प्रतीत होने लगेगा ।

है[1] ॥ १९ ॥

यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः ।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम् ॥ २० ॥

और उस (अभिनेता) के मुख पर भी अनेक दृष्टियों से समन्वित जो (सात्विक आदि) भाव उत्पन्न होंगे, वह भी प्रेक्षागृह के अत्यन्त विशाल होने पर अत्यन्त अव्यक्त (पीछे वाले दर्शकों को साफ दिखाई न देने के कारण अस्पष्ट) ही रहेंगे। (और इस प्रकार नाटक के चरम उद्देश्य रसानुभूति की भी सिद्धि नहीं होगी।) ॥ २० ॥

मध्यम नाट्यमण्डप की ज्येष्ठता—

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते ।
यावत्पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत् ॥ २१ ॥

इस प्रकार समस्त प्रेक्षागृहों में मध्यम (प्रेक्षागृह) उपयुक्ततम है क्योंकि उसमें जितना भी पाठ्य एवं गायन होता है वह सब अनायास सुनाई देता है ॥ २१ ॥

नाट्यमण्डपों के तीन भेद—

(प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥

(नाट्य के प्रयोक्ताओं द्वारा समस्त प्रेक्षागृहों के तीन प्रकार निश्चित किए गये हैं—१. विकृष्ट, २. चतुरस्र एवं ३. त्र्यस्र ।

नाट्यमण्डपों का श्रेणी निर्धारण—

कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं, चतुरस्रं च मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेश्मप्रयोक्तृभिः ॥)

रङ्गशाला के प्रयोक्ताओं को यह जानना चाहिये कि कनीय प्रेक्षागृह त्र्यस्र, मध्यम चतुरस्र, एवं ज्येष्ठ विकृष्ट होता है।)

मानवोपयोगी नाट्यमण्डप-निर्माण की विधि—

देवानां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च ।
यत्नभावाभिनिष्पन्नाः सर्वे भावा हि मानुषाः ॥ २२ ॥

गृहों तथा उपवनों (आदि) के सम्बन्ध में देवताओं की दृष्टि मानसी (सङ्कल्प

---

१. अभिनवभारती के अनुस्वार मण्डप अधिक बड़ा होने पर उच्च स्वर से किया गया पाठ पास बैठे सामाजिकों के लिए तीक्ष्ण होने से एवं दूरवर्ती जनों के लिए अश्राव्य होने से विस्वर हो जाता है।

मात्र से साध्य) हैं, किन्तु मनुष्यों के समस्त भाव (गृहादि पदार्थ) प्रयत्न द्वारा ही सिद्ध हो पाते हैं[1] ॥ २२ ॥

तस्माद्देवकृतैर्भावैर्न विस्पर्धेत मानुषः।
मानुषस्य तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २३ ॥

इस कारण देवताओं द्वारा बनाए गये भावों (गृह उपवन अथवा नाट्यमण्डपादि वस्तुओं) के साथ मनुष्य को स्पर्धा नहीं करनी चाहिए। अब मैं मनुष्य के [उपयुक्त] (नाट्य) गृह के लक्षणों को भलिभाँति बताऊँगा ॥ २३ ॥

भूमेर्विभागं पूर्वं तु परीक्षेत प्रयोजकः।
ततो वास्तु प्रमाणेन प्रारभेत शुभेच्छया ॥ २४ ॥

[नाट्य के] प्रयोजन को सबसे पहले भूमि के उस विभाग की (श्रेष्ठता अथवा अनुपादेयता विषयक) परीक्षा करनी चाहिये। इसके पश्चात् शुभ इच्छा से वास्तु-शास्त्र के प्रमाणानुसार कार्य का आरम्भ करना चाहिये ॥ २४ ॥

नाट्यमण्डपोपयोगी भूमि—

समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्।
भूमिस्तत्रैव कर्तव्यः कर्तृभिर्नाटचमण्डपः ॥ २५ ॥

जो भूमि समतल, स्थिर[2], मजबूत तथा काली अथवा गौरवर्ण की हो उसी भूमि पर [नाट्यमण्डप] बनवाने वालों को नाट्यमण्डप बनवाना चाहिये ॥ २५ ॥

---

१. इस श्लोक के द्वारा मध्येतर रङ्गस्थलों की उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। भरतमुनि ने हस्त प्रमाण मध्यम नाट्यवेश्म को ही मनुष्यों के लिए उपयुक्त माना है तो स्वभावतः प्रश्न उठता है कि फिर नाट्यशास्त्र में उल्लिखित मध्येतर नाट्यवेश्मों का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर है कि देवता तो अपने भवनादि संकल्पमात्र से यथेच्छ नाप के बनाते हैं व प्रयोग में लाते हैं किन्तु मनुष्यों के भवनादि तो एकबार प्रयत्नपूर्वक जैसे बन गये वैसे सदा प्रयोग में लाने पड़ते हैं। इसलिए नाट्यशास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया कि मध्येतर नाट्यमण्डपों में क्या दोष है जिससे मनुष्य प्रयत्न करके अन्य मण्डपों की रचना करने के श्रम एवं तज्जन्य निराशा से बच जाए।

२. स्थिरा—तूफान या बाढ़ के प्रकोप से जिसके ढह जाने की सम्भावना न हो।

भूमि का संस्कार—

प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत् ।
अस्थिकीलकपालानि तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ॥ २६ ॥

पहले [भूमि को] साफ करके हल से अच्छी तरह जुतवाना चाहिये और हड्डी, कील, कपाल [खोपड़ी अथवा खपड़े] घासफूस एवं झाड़ियों आदि को साफ कर कर देना चाहिये ॥ २६ ॥

नाट्यमण्डप निर्माणोपयोगी नक्षत्र—

शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत्ततः ।

पृथ्वी की सफाई के बाद (ज्येष्ठमध्यादि) प्रमाण के अनुसार निर्देश दे ।

(त्रीण्युत्तराणि सौम्यं च विशाखापि च रेवती ।
हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ॥)

[उत्तर शब्द से युक्त तीन नक्षत्र (उत्तराषाढ, उत्तराफाल्गुनी एवं उत्तरभाद्रपद) मृगशिरा, विशाखा, रेवती, हस्त, तिष्य (पुष्य) और अनुराधा नामक नक्षत्र नाट्य-कर्म के लिए शुभ हैं ।]

सूत्र-लक्षण—

पुष्यनक्षत्रयोगेन शुक्लं सूत्रं प्रसारयेत् ॥ २७ ॥

(अतएव) पुष्य नक्षत्र का योग होने पर सफेद रंग की डोरी फैलाना चाहिए ॥ २७ ॥

कार्पासं बाल्बजं वापि मौञ्जं वाल्कलमेव च ।
सूत्रं बुधैस्तु कर्तव्यं यस्य च्छेदो न विद्यते ॥ २८ ॥

विज्ञजनों को चाहिए कि यह डोरी कपास, बल्ब (घास आदि) मूँज अथवा वल्कल (पेड़ की छाल) की बनी हुई हो, और कहीं से कटी न हो (जिससे वह कार्यावस्था में ही टूट न जाय) ॥ २८ ॥

सूत्रभंगजन्य हानियाँ—

अर्धच्छिन्ने भवेत्सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ।
त्रिभागच्छिन्नया रज्ज्वा राष्ट्रकोपो विधीयते ॥ २९ ॥

अर्धभाग (बीचो बीच) से सूत्र के टूट जाने पर स्वामी (राजा अथवा नाट्य मण्डप के स्वामी) की मृत्यु हो जाती है । तिहाई भाग टूटने से राष्ट्र में विप्लव होता है ॥ २९ ॥

छिन्नायां तु चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ।
हस्तात्प्रभ्रष्टया वापि कश्चित्त्वपचयो भवेत् ॥ ३० ॥

चौथाई भाग से टूटने पर नाट्य का प्रयोग करने वाले (नाट्याचार्य अथवा अभिनेता) का नाश होता है। (नापते समय) हाथ से सूत्र गिर जाने पर कोई न कोई हानि अवश्य होती है ॥ ३० ॥

तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते ।
कार्यं चैव प्रयत्नेन मानं नाट्यगृहस्य तु ॥ ३१ ॥

इस कारण रस्सी को सदा प्रयत्नपूर्वक पकड़ना चाहिए और नाट्यगृह की नाप भी बड़ी सावधानी से लेनी चाहिये ॥ ३१ ॥

नाट्यमण्डप के प्रारम्भिक कृत्य—

मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च ।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु पुण्याहं वाचयेत्ततः ॥ ३२ ॥
शान्तितोयं ततो दत्वा ततः सूत्रं प्रसारयेत् ।

अनुकूल मुहूर्त एवं तिथि तथा शुभ करण[1] में ब्राह्मणों को तृप्त करके उनसे पुण्याह वाचन कहलवाये और इसके बाद शान्तियुक्त अभिषेक करके ही सूत्र फैलाना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

नाट्यमण्डप परिमाण एवं रंगशीर्ष निर्माण—

चतुष्षष्टिकरान्कृत्वा द्विधा कुर्यात्पुनश्च तान् ॥ ३३ ॥
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु ।
सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत् ॥ ३४ ॥

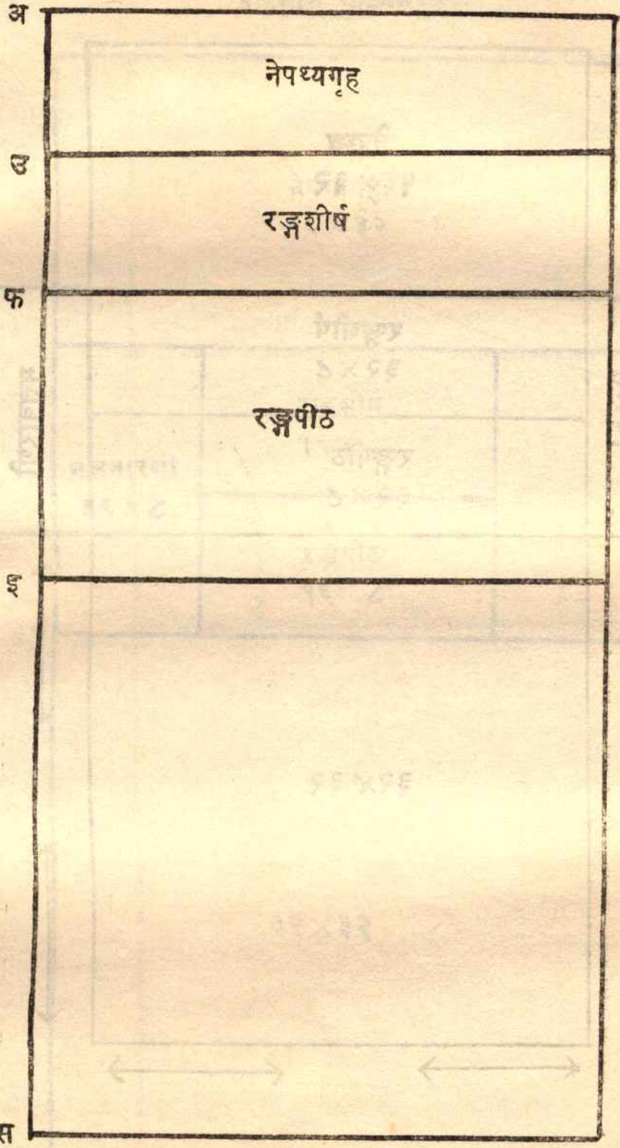
पहले चौसठ हाथ नाप लेना चाहिए[2], फिर उसके [बत्तीस-बत्तीस हाथ के] दो भाग कर देने चाहिए। [इन दोनों भागों में] जो पीछे का भाग हो उसके आधे [सोलह हाथ] भाग को पुनः आधा करके रङ्गशीर्ष बनाना चाहिये ॥३३-३४॥

---

१. करण—"विष्ट्यादिरहितं" ऐसी अभिनवगुप्त की व्याख्या है। विष्टि एक अशुभ करण का नाम है। करण ज्योतिष का पारिभाषिक शब्द है। यह चान्द्र-तिथि का अर्धभाग होता है। करणों की संख्या एकादश है। इनके नाम प्रस्तुत हैं—[१] वव, [२] बालव, [३] कौलव, [४] तैतिल, [५] गर, [६] वणिज, [७] विष्टि, [८] शकुनि, [९] चतुष्पद, [१०] नाग और [११] किस्तुघ्न।

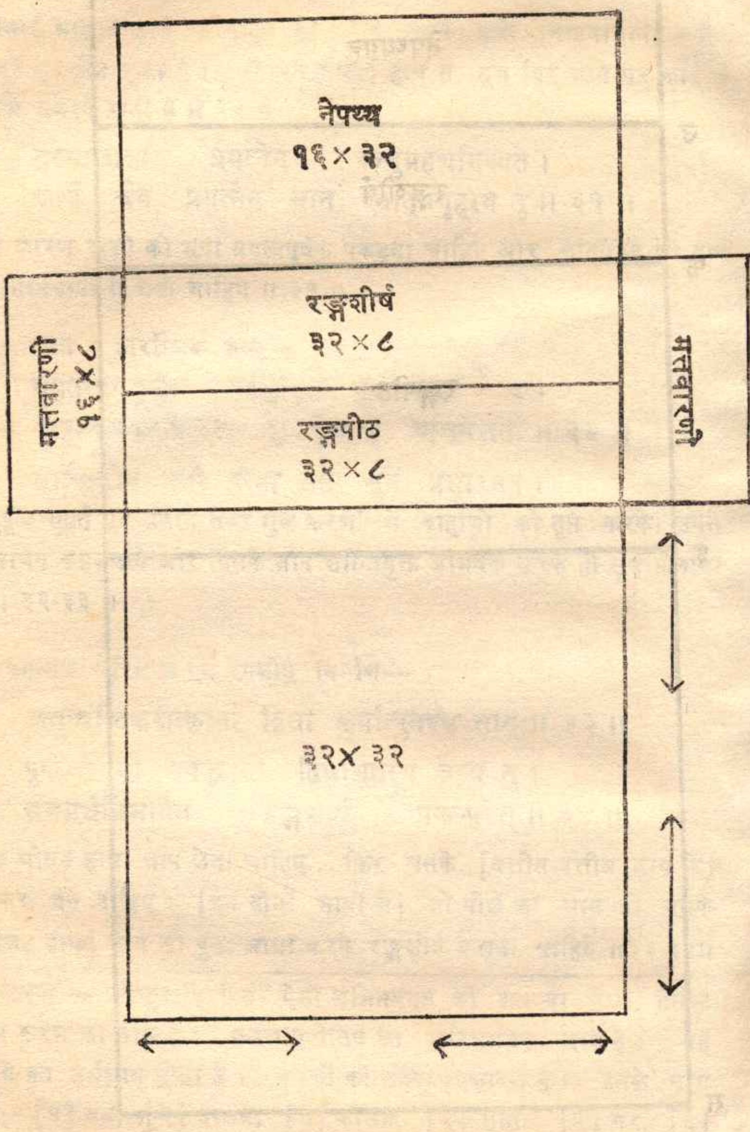
२. इस नाप के अनुसार विकृष्ट आकार के मध्यम परिमाण वाले नाट्य-मण्डप की रचना का विधान किया गया है।

मूलपाठ के अनुसार विकृष्ट आकार के मध्यम परिमाण
नाट्यमण्डप का चित्र

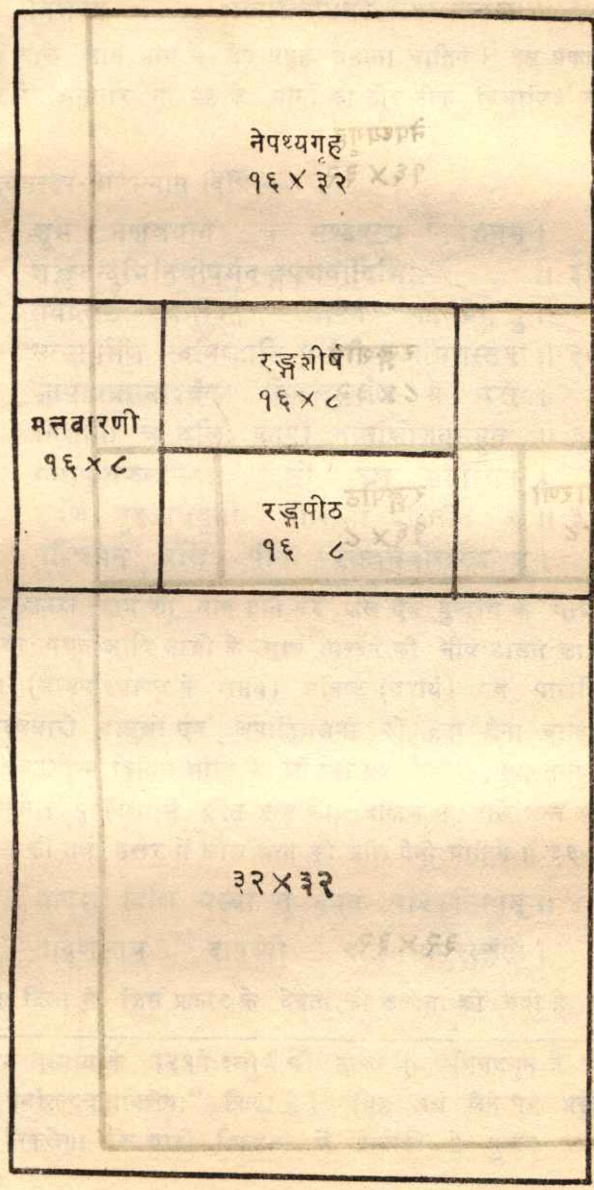


अ स = ६४ हाथ, अ इ = ३२ हाथ, अ फ = १६ हाथ
अ उ = ८ हाथ, उ फ = ८ हाथ

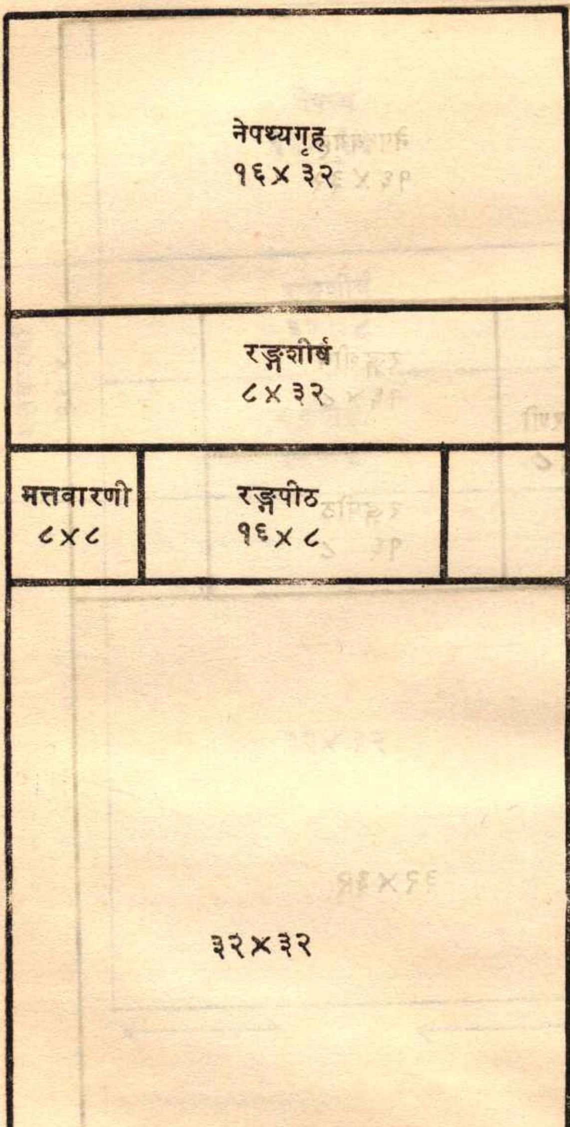
अभिनव की व्याख्यानुसार विकृष्ट आकार के मध्यम परिमाण नाट्यमण्डप का चित्र



आयतमत्तवारणी के साथ विकृष्ट आकार का मध्यम परिमाण नाट्यमण्डप



वर्गाकार मत्तवारणी के साथ विकृष्ट आकार का मध्यम परिमाण नाट्यमण्डप



नेपथ्यगृह निर्माण—

पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्।
विभज्य भागान्विधिवद्यथावदनुपूर्वशः ।। ३५ ।।

पीछे वाले आधे भाग में नेपथ्यगृह बनाना चाहिये। इस प्रकार पहले कही गई विधि के अनुसार नाट्गृह के भागों को ठीक-ठीक विभाजित करना चाहिए ।। ३५ ।।

नाट्यमण्डप-शिलान्यास विधि—

शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम्।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः ।। ३६ ।।
सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु।
उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्ड्याश्रमिणस्तथा ।। ३७ ।।
काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः।
निशायां च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः ।। ३८ ।।
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः।
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो दक्षिणेन च ।। ३९ ।।
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु।

मङ्गलकारी नक्षत्र का योग होने पर शंख एवं दुन्दुभि के घोष के साथ और मृदंग, तथा पणव आदि बाजों के साथ मण्डप की नींव डालने का कार्य करना चाहिए। (मण्डप स्थापन के समय) अनिष्ट (पदार्थ) एवं पाखण्डियों श्रमणों, गेरुआ वस्त्रधारी साधुओं एवं अपाहिजजनों को हटा देना चाहिये और रात्रि में दसों दिशाओं में विविध भाँति के भोजनों एवं सुगन्ध, पुष्प तथा फलों से बलि[1] देनी चाहिये। पूर्वदिशा में श्वेत अन्न की, दक्षिण में नीले अन्न की, पश्चिम में पीले अन्न की तथा उत्तर में लाल अन्न की बलि देनी चाहिये ।। ३६-४० ।।

यादृशं दिशि यस्यां तु दैवतं परिकल्पितम् ।। ४० ।।
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृतः।

जिस दिशा में जिस प्रकार के देवता की कल्पना की गयी है, उस ओर वैसी

---

१. प्रथम अध्याय के १२१वें श्लोक की टीका में अभिनवगुप्त ने 'बलि' का अर्थ "बलिः पूर्वोक्तरचनाविशेषः" किया है। (यह अर्थ लेने पर प्रस्तुत प्रसंग में) तात्पर्य निकलेगा कि चारों दिशाओं में अन्नादि से सुन्दर रचनाएँ बनानी चाहिए।

ही बलि मन्त्रोच्चार के साथ देनी चाहिये[1] ॥ ४०-४१ ॥

ब्रह्मण, राजा तथा कार्यकर्ताओं का भोज्यपदार्थ—

स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम् ॥ ४१ ॥
मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ।

[नाट्यमण्डप की] स्थापना के उपलक्ष्य में ब्राह्मणों को घृतयुक्त पायस, राजा को मधुपर्क (दधि, मधुघृत के मिश्रण से बना आदरसूचक खाद्य) एवं कार्यकर्ताओं[2] को गुड़ एवं चावल देना चाहिए ॥ ४१-४२ ॥

नाट्यमण्डप की स्थापना का मुहूर्त—

नक्षत्रेण तु कर्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः ॥ ४२ ॥
मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च ।

विद्वानों को (मण्डप की) स्थापना मूल नक्षत्र एवं मंगलमय मुहूर्त और शुभ तिथि एवं शुभकरण में करनी चाहिए ॥ ४२-४३ ॥

भित्तिकर्म—

एवं तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार (मण्डप की) स्थापना (शिलान्यास) करके भित्तिकर्म (दीवार) उठाने का काम प्रारम्भ करें ॥ ४३ ॥

स्तम्भ स्थापना—

भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः ।
तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ॥ ४४ ॥

भित्तिकर्म समाप्त हो जाने पर शुभ तिथि व शुभ नक्षत्र तथा शुभकरण में स्तम्भों को खड़ा करने का काम करना चाहिए ॥ ४४ ॥

---

१. प्रस्तुत श्लोक के विधानानुसार आग्नेयकोण के अधिष्ठातृ देवता अग्नि के रक्त वर्ण होने के कारण लाल रंग की बलि देना अभीष्ट है। उसी भाँति अन्य दिशाओं के स्वामियों के अनुरूप ही उस दिशा में बलि अभीष्ट है।

दश दिशाओं के नाम हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, वायव्य, नैर्ऋत्य, ईशान, ऊर्ध्व, एवं अधः। इनके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, अग्नि, वायु, निर्ऋति एवं ईशान हैं।

२. कार्यकर्ता से यहाँ भवन-निर्माण के कारीगरों अथवा नाटक के अभिनयकर्ताओं अथवा दोनों का ही अभिप्राय हो सकता है।

स्तम्भ स्थापन के नक्षत्र एवं विधि—

स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा।
आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च ॥ ४५ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं प्राप्ते सूर्योदये शुभे।

रोहिणी या श्रवण नक्षत्र में स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिए। (क्रिया सम्पादन में) भलीभाँति युक्त, एवं तीन रात्रि तक उपवास किये हुए आचार्य के द्वारा मंगलमय सूर्योदय बेला में स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिए ॥ ४५-४६ ॥

ब्राह्मण-स्तम्भ-पूजन विधि—

प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसंस्कृतः ॥ ४६ ॥
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात् पायसमेव च।

पहले वाले ब्राह्मण-स्तम्भ में सरसों से मार्जित (संस्कृत) और पूर्णतया शुक्ल (वस्तुओं द्वारा) विधि सम्पन्न करनी चाहिए एवं खीर प्रदान करनी चाहिए ॥ ४६-४७ ॥

क्षत्रिय-स्तम्भ-पूजन विधि—

ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ॥ ४७ ॥
सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम्।

इसके पश्चात् क्षत्रिय-स्तम्भ पर लाल रंग के वस्त्र, माला अथवा अनुलेपन चढ़ाए जायें और ब्राह्मणों को गुड़ मिश्रित भात देना चाहिए ॥ ४७-४८ ॥

वैश्य-स्तम्भ-पूजन-विधि—

वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे ॥ ४८ ॥
सर्वं पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम्।

दिशाओं के पश्चिमोत्तर भाग (वायव्यकोण) में वैश्य-स्तम्भ में दी जाने वाली सारी वस्तुएँ पीले रंग की होनी चाहिए तथा ब्राह्मणों को घी मिश्रित भात देना चाहिए ॥ ४८-४९ ॥

शूद्र-स्तम्भ-पूजन-विधि—

शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः सम्यक्पूर्वोत्तराश्रये ॥ ४९ ॥
नीलप्रायं प्रयत्नेन कृसरं च द्विजाशनम्।

पूर्वोत्तर दिशा (ईशान कोण) में स्थित शूद्र-स्तम्भ की सारी विधियाँ प्रयत्नपूर्वक नीले रंग की वस्तुओं से सम्पन्न करनी चाहिए एवं ब्राह्मणों को खिचड़ी खिलानी चाहिए ॥ ४९-५० ॥

ब्राह्मण स्तम्भ के मूल में निक्षेप्य द्रव्य—

पूर्वोक्तब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ॥ ५० ॥
निक्षिपेत् कनकं मूले कर्णाभरणसंश्रयम् ।

पहले उल्लिखित, श्वेतमाला एवं अनुलेपन से युक्त ब्राह्मण स्तम्भ के मूल में कर्णभूषण के सुवर्ण को रखे[1] ॥ ५०-५१ ॥

क्षत्रिय व वैश्य स्तम्भ के मूल में निक्षेप्य द्रव्य—

ताम्रं चाधः प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके ॥ ५१ ॥
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत् ।

क्षत्रिय-संज्ञक स्तम्भ के मूल में तांबा रखना चाहिए एवं वैश्य स्तम्भ के निचले भाग में चाँदी रखनी चाहिए ॥ ५१-५२ ॥

शूद्र-स्तम्भ के मूल में निक्षेप्य द्रव्य—

शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च ॥ ५२ ॥
सर्वेष्वेव तु निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु काञ्चनम् ।

शूद्र-स्तम्भ के मूल में लोहा डालना चाहिए । सभी स्तम्भों के मूल में (विहित धातु के अतिरिक्त) स्वर्ण (भी) डालना चाहिए ॥ ५२-५३ ॥

स्तम्भ-स्थापना विधि—

स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ॥ ५३ ॥
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं पुष्पमालापुरस्कृतम् ।

स्वस्ति (मंगल) वाचन एवं पुण्याह (मंगलमय मंत्र) के घोष के साथ तथा जय शब्द के उच्चारण के साथ पुष्प-मालाओं से अलंकृत स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए ॥ ५३-५४ ॥

रत्नदानैः सगोदानैर्वस्त्रदानैरनल्पकैः ॥ ५४ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत्ततः ।

इसके पश्चात् ब्राह्मणों को पर्याप्त रत्न दान, गोदान एवं वस्त्रदान से तृप्त करके स्तम्भों को उठाना चाहिए ॥ ५४-५५ ॥

---

१. 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस ऋचा के अनुसार ब्राह्मण सृष्टि पुरुष का सर्वोत्तम अंग 'मुख' है । दूसरी ओर श्रुति (वेद) में ब्राह्मण का विशेष अधिकार है । इन दोनों तथ्यों को देखते हुए ब्राह्मण-स्तम्भ में श्रुति (कर्ण) के आभूषण का, जो सर्वोत्तम धातु है—डालने का विधान किया गया है ।

स्तम्भोत्थापन विधि—

अचलं चाप्यकम्प्यञ्च तथैवावलितं पुनः ॥ ५५ ॥
स्तम्भस्योत्थापने सम्यग्दोषा ह्येते प्रकीर्तिताः ।

(स्तम्भों को इस प्रकार उठाना चाहिए कि वह) न तो इधर-उधर खिसकें और न अपनी जगह पर ही हिलें न घूमें[1] । क्योंकि यह (तीनों) स्तम्भ-उत्थापन सम्बन्धी दोष हैं ॥ ५५-५६ ॥

स्तम्भस्खलन जन्मदोष—

अवृष्टिरुक्ता चलने, वलने मृत्युतो भयम् ॥ ५६ ॥
कम्पने परचक्रात्तु भयं भवति दारुणम् ।
दोषैरेतैर्विहीनं तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम् ॥ ५७ ॥

(उत्थापन क्रिया में स्तम्भ के) चलायमान होने (डगमगाने) से अवृष्टि होती है। मुड़ जाने पर मृत्यु का भय होता है। कम्पन होने पर शत्रु पक्ष से भीषण (आक्रमण का) भय होता है। इस कारण इन (उपर्युक्त तीनों) दोषों से रहित और कल्याणकारी स्तम्भ को स्थापित करना चाहिए ॥ ५६-५७ ॥

स्तम्भोत्थापन विधि—

पवित्रे ब्राह्मणस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौः ।
शेषाणां भोजनं कार्यं स्थापने कर्तृसंश्रयम् ॥ ५८ ॥
मन्त्रपूतं च तद्देयं नाट्याचार्येण धीमता ।

ब्राह्मण स्तम्भ के उत्थापित होने पर (ब्राह्मणों को) दक्षिणा एवं गो का दान देना चाहिए। शेष स्तम्भों की स्थापना एवं उत्थापन क्रिया होने पर निर्माता के द्वारा सब को भोजन कराया जाना चाहिये। बुद्धिमान नाट्याचार्य को मंत्रों से पवित्र किया गया भोजन सबको वितरित करना चाहिए ॥ ५८-५९ ॥

पुरोहितं नृपं चैव भोजयेन्मधुपायसैः ॥ ५९ ॥
कर्तॄनपि तथा सर्वान् कृसरां लवणोत्तराम् ।

पुरोहित एवं राजा को मधु-मिश्रित पायस (खीर) तथा समस्त कार्यकर्ताओं को लवणयुक्त खिचड़ी खिलानी चाहिए ॥ ५९-६० ॥

सर्वमेवं विधिं कृत्वा सर्वातोद्यैः प्रवादितैः ॥ ६० ॥
अभिमन्त्र्य यथान्यायं स्तम्भानुत्थापयेच्छुचिः ।

---

१. घूमने अथवा मुड़ने से यहाँ संकेत है कि स्तम्भ कमजोर न हो। भार अथवा अन्य किसी कारणवश झुक न जाएँ।

इस प्रकार सब विधियों को भलीभाँति सम्पन्न करके सब प्रकार के बाजे बजवा कर स्तम्भ को अभिमन्त्रित करके नीति (न्याय) के अनुसार (स्तम्भों) को शुद्धतापूर्वक उठायें ॥ ६०-६१ ॥

स्तम्भ-प्रार्थना—

यथाऽचलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः ॥ ६१ ॥
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव ।

(स्तम्भ के उत्थापन के पश्चात् उसे सम्बोधित करके कहे) जिस प्रकार मेरु पर्वत एवं महाबली हिमालय अचल हैं, उसी प्रकार [हे स्तम्भ] तुम भी अचल एवं राजा के लिए विजय प्रदाता बनो ॥ ६१-६२ ॥

स्तम्भ द्वार, भित्ति तथा नेपथ्यगृह का निर्माण—

स्तम्भद्वारं च भित्तिं च नेपथ्यगृहमेव च ॥ ६२ ॥
एवमुत्थापयेत्तज्ज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा ।

इस भाँति [नाट्यमण्डप की रचना विधि के] ज्ञाता को, स्तम्भद्वार, भित्ति तथा नेपथ्यगृह को विधिपूर्वक बनवाना चाहिये ॥ ६२-६३ ॥

मत्तवारणी-निर्माण—

रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी ॥ ६३ ॥
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः ।

रङ्गपीठ के दोनों पार्श्वों में चार खम्भों से युक्त एवं रङ्गपीठ के नाप की मत्तवारणी[1] की रचना चाहिए ॥ ६३-६४ ॥

---

१. **मत्तवारणी**—नाट्यशास्त्र की जटिलतम समस्याओं में से एक समस्या मत्तवारणी के स्वरूप एवं स्थिति के विषय में भी है। यह शब्द ऐसा अनोखा है कि ना० शा० के अतिरिक्त सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में इसकी आवृत्ति नहीं हुई है। इससे साम्य रखने वाला 'मत्तवारण' शब्द प्राप्त होता है जिसका अर्थ है किसी विशाल भवन की छत पर बना हुआ छोटा कमरा, या बरामदा, या शिविर। अमरकोष की क्षीरस्वामी कृत टीका के अनुसार 'मत्तालम्बोपाश्रयः स्यात् प्रग्रीवो मत्तः वारणः'। किन्तु इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता। सुबन्धु की वासवदत्ता में "मत्तवारणयो-र्वरण्डकेण" यह अंश प्राप्त होता है। इसकी शिवराम त्रिपाठी ने इस भाँति व्याख्या की है—'मत्तवारणौ मत्तगजौ तयोर्वरण्डकेण। भित्तेरुभयपार्श्वे-द्वौ स्थायित्वा मतङ्गजौ। योधयन्तीतिं प्रसिद्धं भित्ति सा तु वरण्डकम् ॥' किन्तु इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता।

अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी ॥ ६४ ॥
ऊत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम् ।

मत्तवारणी की ऊँचाई [रङ्गमण्डप से] डेढ़ हाथ ऊंची होनी चाहिए और उन्हीं दोनों[1] की ऊँचाई के तुल्य रङ्गमण्डप बनाना चाहिए ॥ ६४-६५ ॥

तस्यां माल्यं च धूपं च गन्धं वस्त्रं तथैव च ॥ ६५ ॥
नानावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो बलिः ।

[मत्तवारणी के निर्माणकाल के अवसर पर] उस पर नाना वर्णों की मालाएँ, धूप, गन्ध एवं वस्त्र चढ़ाने चाहिये और सब प्राणियों को प्रिय लगने वाली बलि भी दी जानी चाहिए ॥ ६५-६६ ॥

आयसं तत्र दातव्यं स्तम्भानां कुशलैरधः ॥ ६६ ॥
भोजने कृसराश्चैव दातव्यं ब्राह्मणाशनम् ।

योग्य वास्तुविदों के द्वारा स्तम्भों के मूल में लोहा डालना चाहिए एवं ब्राह्मणों को भी खाने के लिए भोजन के रूप में खिचड़ी दी जानी चाहिए ॥ ६६-६७ ॥

एवं विधिपुरस्कारैः कर्तव्या मत्तवारणी ॥ ६७ ॥
रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ।

इसके उपरान्त वास्तुशास्त्र की विधियों के अनुरूप मत्तवारणी की रचना करना चाहिए और इसके बाद विधिविहित रूप से रङ्गपीठ का निर्माण करना चाहिये ॥ ६७-६८ ॥

षड्दारुक की विधि—

रङ्गशीर्षं तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ॥ ६८ ॥
कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु ।

[रङ्गपीठ के निर्माण के क्रम में] छः काष्ठ स्तम्भों से युक्त रङ्गशीर्ष[2] बनाना

नाट्यशास्त्र में स्पष्टतः 'पार्श्वे' 'मत्तवारणी' में एकवचन का प्रयोग है अतः एक ओर ही मत्तवारणी के विधान का बोध होता है जबकि अभिनवगुप्त ने रंगमंच के दोनों तरफ मत्तवारणी की स्थिति बताई है।

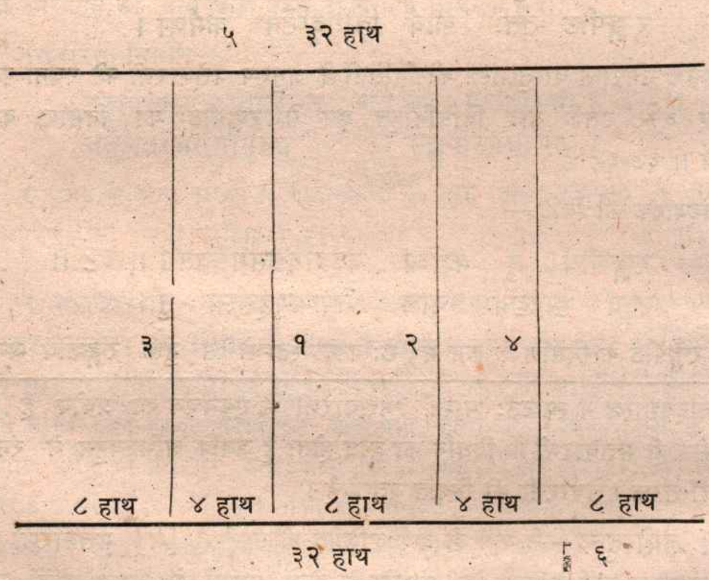
१. तयोस्तुल्यं—से यहाँ दो अर्थ अभिप्रेत हो सकते हैं [अ] मत्तवारणी एवं रङ्गपीठ की ऊंचाई के तुल्य [ब] रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में स्थित दोनों मत्त-वारणियों की ऊंचाई के तुल्य जैसा कि प्रो० घोष का मत है।

२. षड्दारुकसमन्वितम्—अभिनवगुप्त ने इसकी तीन व्याख्यायें दी हैं :— [१] नेपथ्यगृहभित्तिलग्नौ स्ताम्भावष्टहस्तान्तरावन्योन्यं निवेश्य तयोर्यन्मुखं तदपेक्षया

चाहिए और इसमें नेपथ्यगृह के दो दरवाजों का भी निर्माण करना चाहिये ॥ ६८-६९ ॥

चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयम् तेषामधस्तनं काष्ठमुपरितनं चेति षड्दारुणि । अर्थात् नेपथ्यगृह की भित्ति के सामने एक दूसरे से आठ हाथ के अन्तर पर दो स्तम्भों को खड़ा कर दें । रंगशीर्ष के इस भाग की लम्बाई ३२ हाथ होती है । अतः एक दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर खम्भे खड़े करने पर यह दोनों पार्श्वों की दीवारों से १२-१२ हाथ की दूरी पर रहेंगे; फिर उनके दीवार के पास वाले भाग में, स्थापित स्तम्भ से चार हाथ दूर अन्य स्तम्भ खड़े करने चाहिये । इस भाँति दीवार के आठ हाथ बाद एक स्तम्भ, चार हाथ बाद दूसरा स्तम्भ, आठ हाथ बाद तीसरा स्तम्भ, चार हाथ बाद चौथा स्तम्भ रहेगा एवं पुनः दीवार तक आठ हाथ की जगह बच जायगी । इन चार स्तम्भों के नीचे वाले एक और ऊपर वाले एक काष्ठ खण्ड को मिलाकर रङ्गशीर्ष के छः काष्ठ ख़ण्ड होते हैं ।

हमारे विचार से अभिनवगुप्त की इस व्याख्या को नीचे के चित्र के द्वारा अधिक सरलता से समझाया जा सकता है—

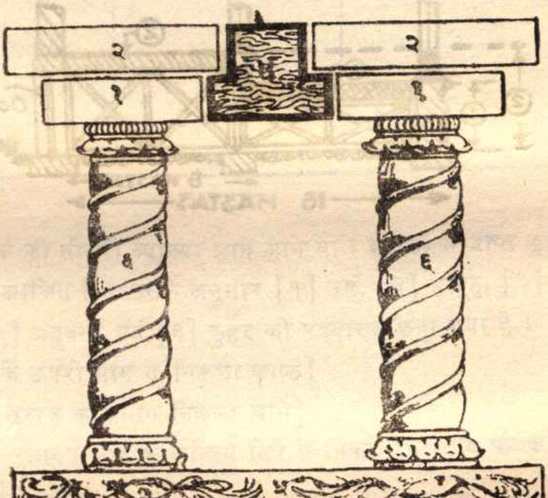


[२] अभिनवगुप्त के अनुसार कष्ठखण्डों की स्थिति की दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—

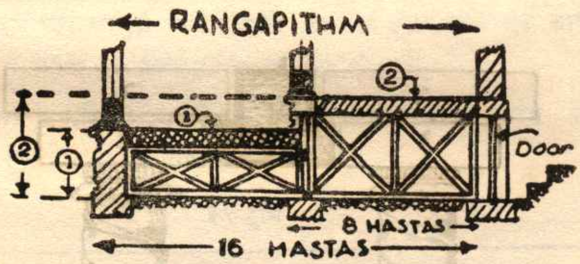
"पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डितं स्तम्भद्वयोपेतमिहाच्छपातकम् ।"

अर्थात् दोनों पार्श्वों से सटे हुए दो स्तम्भ होने चाहिये । इन दोनों के बीच में

आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार रंगशीर्ष में षड्दारुक की तृतीय स्थिति का चित्रण

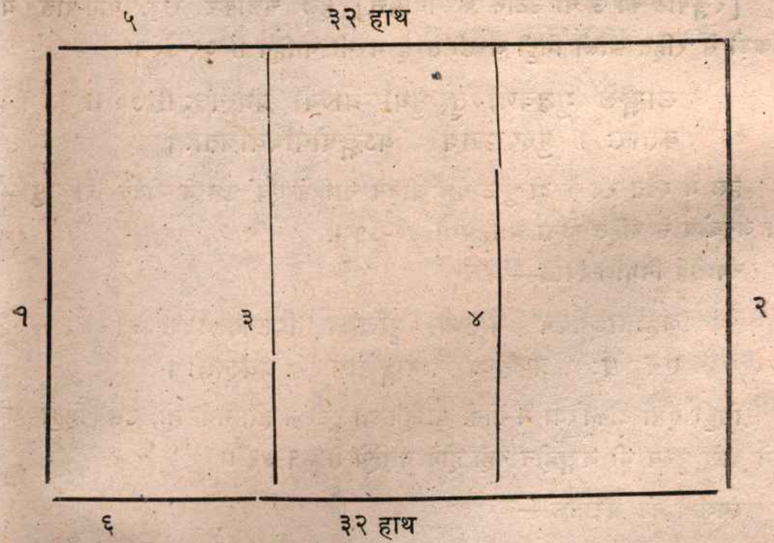


प्रो० सुब्बाराव के अनुसार षड्दारुक का चित्रण



दो और स्तम्भ होने चाहिये [जो कि नाप के विशेष आदेशाभाव में **समान अन्तर** पर बनेंगे]। उनके ऊपर और नीचे एक-एक काष्ठखण्ड होना चाहिये।

इस प्रकार की षड्दारुक की स्थिति नीचे के चित्र में प्रदर्शित है—



[३] षड्दारुक की तीसरी व्याख्या आगे आने वाले श्लोकों में प्राप्त कुछ पारिभाषिक शब्दों पर आश्रित हैं। इसके अनुसार [१] ऊह, [२] प्रत्यूह, [३] निर्व्यूह, [४] सञ्जवन, [५] अनुबन्ध एवं [६] कुहर को षड्दारुक कहा गया है।

१—[स्तम्भ के ऊपरी भाग से निकला काष्ठ]

२—[ऊह से तराजू के समान निकला भाग]

३—[ऊह के तुलावत् भाग के अन्तिम सिरे से निकले भित्तिमय फलक]

४—[फलक]

५—[खम्भों पर बने हुए सिंह, साँप या हाथी आदि]

६—[लकड़ी पर खुदे हुए पर्वत, नगर, कुञ्ज या गह्वर आदि]।

इस व्याख्या के अनुसार लकड़ी पर किए गए शिल्प के भेदों की ही संज्ञा षड्दारुक है। किन्तु इस व्याख्या को चित्र के रूप में प्रस्तुत करना हमारे लिए सम्भव नहीं हो सका है।

षड्दारुक के सम्बन्ध में एक अन्य व्याख्या प्रो० सुब्बाराव की है। उनके मत में रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में मत्तवारणी के स्थान पर लकड़ी का एक चौखटा लगना चाहिये। इस चौखटे के चारों ओर की चार लकड़ियाँ एवं उनके दोनों कोनों को मिलाने वाली दो लकड़ियाँ मिलकर षड्दारुक कहलाने की अधिकारिणी हैं।

रंगपीठ भूमि शोधन विधि—

पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः ॥ ६९ ॥
लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्ठतृणशर्करम् ।

[रङ्गपीठ को ऊँचा उठाने के निमित्त] हल चलाकर रोड़े, घास-पात या कंकड़ों से रहित काली मिट्टी अच्छी तरह भरनी चाहिये ॥ ६९-७० ॥

लाङ्गले शुद्धवर्णौ तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः ॥ ७० ॥
कर्तारः पुरुषाश्चात्र येऽङ्गदोषविवर्जिताः ।

हल में श्वेत रंग के दो पुष्ट बैल जोड़ने चाहिये एवं उनको जोतने वाले पुरुषों को अंगदोष से रहित होना चाहिये ॥ ७०-७१ ॥

रंगशीर्ष निर्माण विधि—

अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पिटकैर्नवैः ॥ ७१ ॥
एवङ्विधैः प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः ।

मिट्टी ऐसी टोकरियों में ढोनी चाहिये जो टूटी न हों, नयी हों, उस मिट्टी को ढोने वाले पुरुष भी अङ्गहीन नहीं होने चाहिये ॥ ७१-७२ ॥

रंगशीर्ष का धरातल—

कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥ ७२ ॥
शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते ।

रङ्गशीर्ष न तो कछुए की पीठ के समान [बीच में उभरा हुआ] और न मछली के पीठ के समान [कम उभरा हुआ] बनाना चाहिये । ऐसा रङ्गशीर्ष प्रशंसनीय होता है जो शुद्ध दर्पण के समान समतल धरातल वाला होता है ॥ ७२-७३ ॥

रंगशीर्ष के धरातल में जड़े जाने वाले रत्न—

रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ॥ ७३ ॥
वैडूर्यं दक्षिणे पार्श्वे स्फटिकं पश्चिमे तथा ।
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत् ॥ ७४ ॥

चतुर निर्माताओं को चाहिये कि रंगशीर्ष के निर्माण में उसके नीचे [फर्श में] रत्न लगवायें । पूर्व की ओर गहरा[1], दक्षिण की ओर वैदूर्यमणि, पश्चिम दिशा में स्फटिक एवं उत्तर में मूंगा तथा मध्य में स्वर्ण को रखना चाहिये ॥ ७३-७४ ॥

---

१. पूर्व दिशा के स्वामी इन्द्र हैं जिनका आयुध वज्र है । अतः पूर्व दिशा में हीरे के वज्र का विधान किया गया है । इसी प्रकार अन्य रत्नों का विधान उस दिशा के अधिष्ठातृ-देवता के वर्ण के आधार पर किया गया है ।

दारुकर्म विधि—

एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत् ।
ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥ ७५ ॥
नानासञ्जवनोपेतं बहुव्यालोपशोभितम् ।
ससालभञ्जिकाभिश्च समन्तात्समलङ्कृतम् ॥ ७६ ॥
निर्व्यूहकुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम् ।
नानाविन्याससंयुक्तं चित्रजालगवाक्षकम् ॥ ७७ ॥
सुपीठधारिणीयुक्तं कपोताली-समाकुलम् ।
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् ॥ ७८ ॥
एवं काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ।

इस भाँति रङ्गशीर्ष की रचना करने के बाद लकड़ी के काम को प्रारम्भ करना चाहिये। ऊह, प्रत्यूह से युक्त[1], नाना प्रकार की कारीगरी से समन्वित, अनेक संजवनों से युक्त[2], अत्यधिक उत्कीर्ण सर्पों से शोभित, लकड़ी की बनी नारी आकृतियों से चतुर्दिक-खचित, निर्व्यूह[3] तथा कुहरे से युक्त[4], अनेकविध वेदिकाओं से गुम्फित, अनेक प्रकार से [चौकोर या अष्टकोण छिद्रों वाली] बनाई गयी जालियों और गवाक्षों से सजे हुए सुन्दरपीठ [स्तम्भों का ऊपरी भाग] एवं धारणियों [पीठ के भी

---

१. ऊह—६८वें श्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या दी है। उनके अनुसार स्तम्भ के ऊपर निकली हुई लकड़ी ऊह है एवं प्रत्यूह उसके ऊपर तुलावत् स्थित दूसरी लकड़ी है—

'ऊहः स्तम्भशिरसो दूर-निर्गतं काष्ठम्। प्रत्यूहस्ततो विनिर्गता तुला।' यों ऊह-प्रत्यूह को साधारण शब्द मानकर तात्पर्य सोंच-विचार कर या निरीक्षण-परीक्षण करके कार्य करने के अर्थ में भी लिया जा सकता है।

२. सञ्जवन—"सञ्जवन-फलकाः" अभि० भा० २-६८ के अनुसार तख्तों या चौकों की संज्ञा संजवन है।

३. निर्व्यूह—तुलाकार प्रत्यूह के किनारों से निकले हुए फलकों की पंक्ति को निर्व्यूह कहते हैं—निर्व्यूहास्तुलान्तान्निःसृता फलकमित्तिमयाः (वही)।

४. कुहर—काष्ठ के सौष्ठव के निमित्त उस पर उत्कीर्ण चित्र विशेष को कुहर कहते हैं। अभिनवगुप्त के मत में कुहर संज्ञा उन चित्रों की है जिनमें पर्वत, नगर, निकुञ्ज एवं गह्वर की आकृतियाँ खोदी गई हों—

कुहराणि पर्वतपुरनिकुञ्जगह्वररूपाणि ।

ऊपर का तुलकार भाग] से युक्त, कबूतरों की छतरियों से व्याप्त फर्श पर खड़े किये गये नानाविध स्तम्भों से सुशोभित दारुकर्म [काष्ठ-सौष्ठव] को सम्पन्न करने के बाद भित्तिकर्म प्रारम्भ करना चाहिये ॥ ७५-७९ ॥

रङ्गमण्डप-द्वार विधि—

स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा ॥ ७९ ॥
कोणं वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं न कारयेत् ।

स्तम्भ, खूँटी[1], खिड़की, कोना अथवा प्रतिद्वार को किसी अन्य द्वार के सम्मुख[2] नहीं रखना चाहिये ॥ ७९-८० ॥

रङ्गमण्डप-गवाक्ष-विधि—

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ॥ ८० ॥
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान् ।

नाट्यमण्डप की पर्वत की कन्दरा के समान द्विभूमि[3] से युक्त, मन्दवायु का प्रवेश कराने वाली खिड़कियों से समन्वित, (तीव्र) वायु से रहित एवं गम्भीर शब्द करने वाला होना चाहिये ॥ ८०-८१ ॥

---

१. **नागदन्त**—प्राचीनकाल में हाथीं के दाँत को ही खूंटी के जगह प्रयुक्त किया जाता था। उसी तथ्य का परिचायक यह शब्द है। नाट्यगृह में नागदन्त का प्रयोजन सज्जार्थ है, जिससे उस पर पुष्पमालायें या चित्र अथवा पुत्तलिका आदि टांगी जा सकें।

२. **द्वारविद्ध**—अभिनव ने इसका अर्थ प्रतिद्वार बताया है अर्थात् दोनों द्वारों का मध्य भाग जो एक दूसरे के सम्मुख न हो।

नाट्यगृह में वातायन एवं द्वारों का परस्पराभिमुख न होना आधुनिक वास्तु-कला के नितान्त विपरीत है, जिसमें वायु के पर्याप्त आवागमन के निमित्त खिड़कियाँ एवं दरवाजे एक दूसरे के आमने-सामने बनाये जाते हैं।

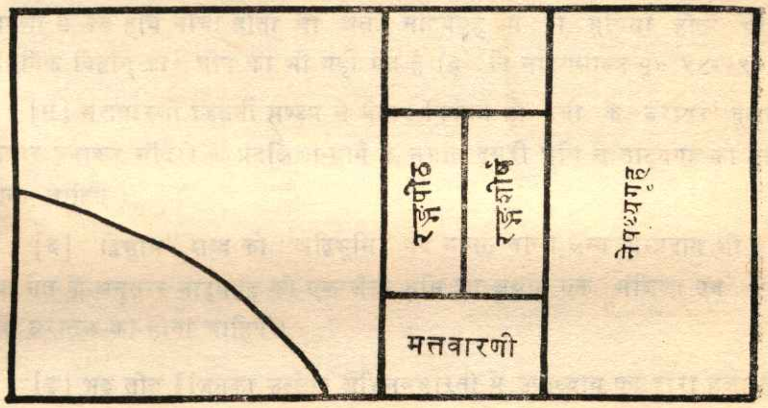
३. **द्विभूमि**—इस शब्द की अनेक व्याख्यायें की गयी हैं।

[अ] भूमि काअर्थ 'मंजिल' या 'तल्ला' मानने वालों के अनुसार नाट्यगृह को दो मंजिला होना चाहिये। रामगढ़ पर्वत सीताबेंगा नामक गुफा में ईसा से कुछ समय पूर्व का नाट्यगृह पाया गया है जो दो मंजिला है। अतः कुछ विचारक यह मानते हैं कि नाट्यगृह में दो मंजिलें होनी चाहिये।

[ब] अन्य विद्वान् भूमि का अर्थ धरातल मानते हैं। तदनुसार रङ्गमञ्च में ऊँचे एवं नीचे दो धरातल होने चाहिये।

रङ्गशीर्ष एवं पार्श्वस्थ मत्तवारणियाँ समतल होती थी, रंगशीर्ष से नेपथ्य एवं

भट्टतौत के अनुसार नाट्यमण्डप में धरातल



वायुरहित नाट्यमण्डप के लाभ—

तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥ ८१ ॥
गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति ।

[नाट्यगृह बनवाने वालों को नाट्यमण्डप इसलिए वायुरहित बनवाना चाहिये जिससे कुतप[1] की ध्वनि गम्भीर प्रतीत हो ॥ ८१-८२ ॥

मत्तवारणी डेढ़ हाथ ऊँचे धरातल की होती थी, इस प्रकार नाट्यगृह में दो भूमियाँ होती थीं। जो विद्वान् रंगशीर्ष एवं रंगपीठ में भेद मानते हैं वह द्विभूमि की व्याख्या इस रूप में करते हैं कि रंगपीठ का धरातल नेपथ्य, रंगशीर्ष एवं मत्त-वारणी से डेढ़ हाथ नीचा होता था अतः नाट्यगृह में दो भूमियाँ होती थीं। आधुनिक विद्वान् डा० घोष का भी यही मत है (द्र० दि नाट्यशास्त्र पृ० २८-२९)।

[स] मत्तवारणी जितनी मण्डप से बाहर निकली हो उसी के बराबर दूसरी दीवार बनाकर मंदिरों के प्रदक्षिणा-मार्ग के समान दूसरी भूमि से नाट्यगृह को युक्त होना चाहिए।

[द] "द्विभूमि" शब्द को "अद्विभूमि" पद मानने वाला अन्य सम्प्रदाय भी है। इस मत के अनुसार नाट्यगृह को एक जैसी भूमि का अर्थात् एक मंजिला एवं एक जैसे धरातल का होना चाहिये।

[इ] भट्ट तोत [जिनका उल्लेख अभिनवभारती में उपाध्याय पद द्वारा हुआ है] ने इसकी "वीप्सागर्भित" व्याख्या की है। वीप्सा अर्थ में द्वित्व हो जाता है अतः यहाँ वीप्सा-धर्म का अर्थ है रंगपीठ से द्वार तक धरातल का क्रमशः नीचे से ऊपर होते जाना। कदाचित् अभिनवगुप्त भी इसी मत के समर्थक हैं। इस प्रकार के नाट्यगृह होने से अनेक सुविधायें हैं—

[१] दर्शकों को आड़ नहीं पड़ती [एवं हि परस्परानाच्छादनं सामाजि-कानाम्]।

[२] पर्वत की कन्दरा के समान आकार भी बन जाता है [शैलगुहाकारत्वं]।

[३] शब्दों का स्थिरत्व आदि भी हो जाता है [स्थिरशब्दादित्वं च भवति]।

१. कुतप—[१] कुतपः संफेटक-गायकवादकसमूहः [अभि० भा०] अर्थात् गायन एवं वादन के नादसमुदाय को कुतप कहते हैं। अभिनवगुप्त ने कुतप की अन्य व्याख्यायें भी दी हैं। तदनुसार इसके अन्य अर्थ भी हैं।

[१] नाट्यभूमि को उज्ज्वल करने वाला।

भित्तिलेप-विधि—

भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत् ॥ ८२ ॥
सुधाकर्म बहिस्तस्य विधातव्यं प्रयत्नतः ।

भित्ति रचना को विधिपूर्वक समाप्त करके उन पर भित्ति[1]-लेप करवाना चाहिये एवं तत्पश्चात् उस [मण्डप या लेप] के बाहर की ओर कुशलतापूर्वक सफेदी करवानी चाहिये ॥ ८२-८३ ॥

भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः ॥ ८३ ॥
समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत् ।

भली प्रकार लेप की हुई, सब तरफ से पुँछी हुई, समतल एवं शोभायुक्त की गयी भित्तियों के ऊपर चित्रांकन का कार्य कराना चाहिये ॥ ८३-८४ ॥

चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा ॥ ८४ ॥
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम् ।

चित्ररचना में विशेषतः पुरुषों एवं स्त्रियों के चित्र बनवाने चाहिये तथा लता बन्ध[2] एवं आत्मभोग [की रुचि] के अनुसार चित्रों का चित्रण करवाना चाहिये ॥ ८४-८५ ॥

चतुरस्र नाट्यमण्डप-विधि—

एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्मप्रयोक्तृभिः ॥ ८५ ॥
पुनरेव हि वक्ष्यामि चतुरश्रस्य लक्षणम् ।

[वास्तु-शास्त्र के] प्रयोक्ताओं को विकृष्ट [आयताकार] नाट्यमण्डप की रचना इस [ऊपर-वर्णित] विधि से करनी चाहिए। इसके पश्चात् मैं [भरत मुनि] अब चतुरस्र [चौकोर, वर्गाकार] नाट्यगृह का लक्षण कहूँगा ॥ ८५-८६ ॥

---

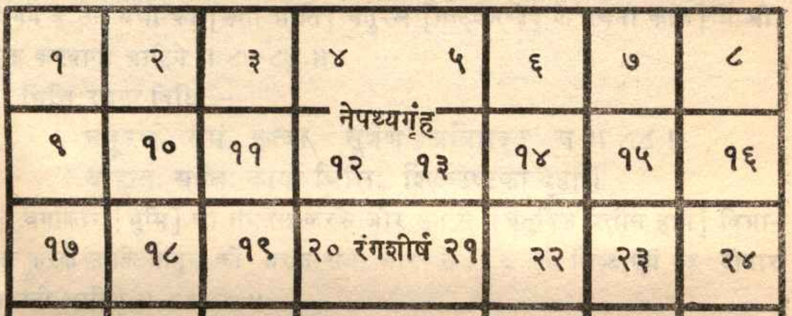
[२] शब्द की रक्षा करने वाला।

किन्तु यहाँ पर प्रथम अर्थ ही सटीक प्रतीत होता है। अन्यत्र भी जहाँ कुतप शब्द आया है, अभिनव ने उसे चार प्रकार के वाद्यों का द्योतक माना है।

१. भित्तिलेप—भग्नशङ्खबालुकाशुक्तिलेपः—अर्थात् टूटे हुए शङ्ख, सीपी, एवं बालू के मिश्रण से बना हुआ पलस्तर।

२. लताबन्ध—कामशास्त्रोक्त स्थितिविशेष का संज्ञक शब्द है। इसी भाँति आत्मभोगजम् शब्द भी दम्पति के विलास चित्रण का संकेत करता है। अजन्ता की गुफाओं में प्राप्त एतद्विषयक चित्र, यहाँ उल्लिखित नाट्यमण्डप के चित्रांकन के प्रतिनिधि हैं।

आचार्य शङ्कुक के मतानुसार चतुरस्र नाट्यमण्डप



चतुरस्र नाट्यमण्डप-परिमाण—

समन्ततश्च कर्तव्या हस्ता द्वात्रिंशदेव तु ॥ ८६ ॥
शुभभूमिविभागस्थो नाटयज्ञैर्नाट्यमण्डपः ।

नाट्य के जानकारों को चाहिये कि शुभ भूमि में चारों ओर से **बत्तीस** हाथ नापकर [चतुरस्र] नाट्य-मण्डप बनवायें ॥ ८६-८७ ॥

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु लक्षणं मङ्गलानि च ॥ ८७ ॥
विकृष्टे तान्यशेषाणि चतुरश्रेऽपि कारयेत् ।

पहले [विकृष्ट नाट्यमण्डप के सम्बन्ध] में जो विधान, लक्षण एवं मंगल आदि कहे गये हैं उन सभी को [उसी भाँति] चतुरस्र [नाट्यमण्डप के रचना काल] में भी प्रयुक्त करवाना चाहिये ॥ ८७-८८ ॥

भित्ति रचना-विधि—

चतुरश्रं समं कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च ॥ ८८ ॥
बाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः श्लिष्टेष्टका दृढा ।

वर्गाकार [भूमि] को समतल करके और सूत से [चतुर्दिक बत्तीस हाथ] विभाजित करके उसके बाहर की तरफ सब ओर से ईंट की शिष्ट एवं दृढ़ दीवार बनवानी चाहिये ॥ ८८-८९ ॥

स्तम्भ-स्थापना-विधि—

तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिताः ॥ ८९ ॥
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शक्ता मण्डपधारणे ।

नाट्य के प्रयोक्ताओं की भित्ति-रचना के पश्चात् [नाट्यमण्डप के] भीतर की ओर से रंगपीठ[१] के ऊपर मण्डप को धारण करने में समर्थ दस खम्भों[२] की रचना

---

१. चतुरस्रमण्डप के क्षेत्र-विभाजन के निमित्त अभिनवभारती में आचार्य शंकुक का मत उद्धृत किया गया है। तदनुसार बत्तीस हस्तप्रमाण वर्गाकार क्षेत्र को चारों ओर से आठ-आठ भागों में बाँट लें जिससे चौंसठ खाने बन जायँ। उनमें सबसे बीच के चार खानों में वर्गाकार रंगपीठ बनाएँ जिसकी प्रत्येक भुजा आठ हाथ की होगी। उसके पश्चिम भाग में चार हाथ गहरे व बत्तीस हाथ चौड़े क्षेत्र में षड्दारुक संस्थान रंगशीर्ष की रचना करे एवं उसके भी पीछे जो भाग बचे [आठ हाथ गहरा व बत्तीस हाथ चौड़ा] उससे नेपथ्यगृह की रचना करनी चाहिये।

२. दशस्तम्भ—कहाँ-कहाँ और किस भाँति स्थापित किए जाने चाहिये, इस विषय में नाट्यशास्त्र के मूल भाग से कोई संकेत नहीं मिलता। अभिनवभारती

करनी चाहिए ॥ ८९-९० ॥

प्रेक्षक-पीठ निर्माण-विधि—

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम् ॥ ९० ॥
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ।

स्तम्भों से बाहर की ओर प्रेक्षकों के बैठने के लिए ईंट एवं लकड़ी के संयोग से पीठक बनाना चाहिये जो सीढ़ी के आकार का हो ॥ ९०-९१ ॥

हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः ॥ ९१ ॥
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम् ।

भूमि-भाग से एक हाथ ऊँची उठती हुई सीढ़ियों द्वारा दर्शकों के आसनों का निर्माण करना चाहिये जिससे रंगपीठ अनायास ही दिखायी दें[1] ॥ ९१-९२ ॥

स्तम्भों की स्थापना विधि—

षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान्यथादिशम् ॥ ९२ ॥
विधिना स्थापयेत्तज्ज्ञो दृढान्मण्डपधारणे ।
अष्टौ स्तम्भान्पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत् ॥ ९३ ॥

चतुर विद्वान् को चाहिये कि वह मण्डप के भीतर भी छः ऐसे अन्य स्तम्भों को दिशाओं के अनुसार स्थापित करें जो मण्डप को धारण करने में पूर्णतया समर्थ हों। एवं उनके ऊपर पुनः आठ स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए ॥ ९२-९३ ॥

रंगपीठ निर्माण-विधि—

स्थाप्यं चैव ततः पीठमष्टहस्तप्रमाणतः ।
विद्धास्यमष्टहस्तं च पीठं तेषु ततो न्यसेत् ॥ ९४ ॥

के उद्धरणानुसार रंगपीठ के चार कोने में चार खम्भे उनमें से आग्नेय (पूर्व-दक्षिण कोण) से चार हाथ दूर दक्षिण की ओर पाँचवाँ, और अन्य तीनों खम्भों से भी चार-चार हाथ दूर छठा, सातवाँ एवं आठवाँ स्तम्भ लगाना चाहिए। ईशान एवं आग्नेय कोण में स्थित स्तम्भों से चार हाथ दूर पूर्व की ओर दो स्तम्भ और लगा देने से दस स्तम्भ पूर्ण हो जाते हैं।

वैसे इस विषय में अधिक स्पष्टतया कुछ नहीं कहा जा सकता है। श्री मनकद एवं श्री राघवन ने इस विषय में पर्याप्त चर्चा की है।

१. तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि दर्शकों के बैठने की प्रथम पंक्ति का धरातल भूमिभाग से एक हाथ ऊँचा हो एवं उसके पीछे की प्रत्येक पंक्ति अगली से एक हाथ ऊँची हो जिससे आसनों की पंक्तियाँ सोपानाकृति रहें और रङ्गपीठ के दर्शन में किसी को भी असुविधा न हो।

[स्तम्भों की स्थापना के पश्चात्] आठ हाथ की नाप का पीठ बनाना चाहिये। उन पर आठ हाथ के विद्धास्य[1] पीठ की स्थापना करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

स्तम्भों की अलंकरण विधि—

तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे।
धारणीधारणास्ते च शालस्त्रीभिरलङ्कृताः ॥ ९५ ॥

उस (नाट्यगृह निर्माण की कला को) जानने वालों को मण्डप को धारण करने वाले, धारणियों (शहतीरों) को संभालने वाले एवं पुत्तलिकाओं (शाल स्त्रियों) से अलंकृत स्तम्भ लगवाने चाहिये ॥ ९५ ॥

नेपथ्य-गृह एवं द्वार निर्माण की विधि—

नेपथ्यगृहकं चैव ततः कार्यं प्रयत्नतः।
द्वारं चैकं भवेत्तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम् ॥ ९६ ॥

इसके उपरान्त अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक नेपथ्यगृह की रचना [रंगशीर्ष के पीछे बचे स्थान में] करनी चाहिये। इस [नेपथ्य] से रङ्गपीठ में प्रवेशार्थ एक द्वार[2] होना चाहिये ॥ ९६ ॥

जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्।
रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥ ९७ ॥

सामान्य जनता को नेपथ्यमण्डप में सामने से प्रवेश कराना चाहिये। इसलिये उनके प्रवेशार्थ रङ्गपीठ से सम्मुख वाले भाग में दूसरा द्वार[3] बनवाना चाहिये ॥ ९७ ॥

---

१. विद्धास्य—जिसका मुख विद्ध अर्थात् बँधा हुआ हो। रंगपीठ के संदर्भ में इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि रंगपीठ खुला न हो अपितु उसका अग्रभाग स्तम्भों से बँधा हो। अभिनवगुप्त के मतानुसार पद्म आदि के रूप में बने हुए मुख वाले स्तम्भों के ऊपर आठ हाथ का पीठ बनाए। इस प्रकार के (स्तम्भों से) विद्धास्य पीठ के ऊपर एक-एक हाथ की तुलाओं को रोकने वाले काष्ठ-खण्ड स्तम्भों के ऊपर रखे।

२. द्वार चैकं ... ... तावद् द्वे द्वारे। तेन द्वारमिति जातावेकवचनम्—अभि० भा०। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत में नेपथ्य से रंगपीठ के बीच में दो दरवाजे होने चाहिये।

३. अभिनवगुप्त के मत में कुल मिलाकर चार दरवाजे होने चाहियें—

[१] नेपथ्यगृह में भार्या सहित नट के आगमनार्थ एक द्वार [२-३] नेपथ्य से रंगशीर्ष तक जाने के लिये दो द्वार [४] समाजिकों के आने के लिये रङ्गमण्डप के अगले भाग में एक द्वार।

रंगपीठ-निर्माण विधि—

अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रङ्गपीठं प्रमाणतः ।
चतुरस्रं समतलं वेदिकासमलंकृतम् ॥ ९८ ॥

आठ हाथ की नाप के चौकोर एवं समतल और वेदिका से सुशोभित रंगपीठ को बनाना चाहिए ॥ ९८ ॥

मत्तवारणी निर्माण विधि—

पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतुः स्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥ ९९ ॥

वेदिका के दोनों बगलों में पूर्वोक्त नाप के अनुसार चार स्तम्भों से युक्त मत्तवारणी बनवानी चाहिए ॥ ९९ ॥

रंगशीर्ष निर्माण विधि—

समुन्नतं समं चैव रङ्गशीर्षं तु कारयेत् ।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा ॥ १०० ॥

रंगशीर्ष वेदिका से ऊँचा अथवा उसके समतल बनाना चाहिये । विकृष्ट (आयताकार) मण्डप में (रंगशीर्ष वेदिका से) अधिक ऊँचा एवं चतुरस्र (वर्गाकार) मण्डप में (वेदिका के) समान धरातल वाला होता है ॥ १०० ॥

त्र्यस्र-नाट्यमण्डप निर्माण विधि—

एवमेतेन विधिना चतुरश्रं गृहं भवेत् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्र्यश्रगेहस्य लक्षणम् ॥ १०१ ॥

इस प्रकार उक्त विधि के अनुसार चतुरस्र नाट्यगृह की रचना की जाती है । अब मैं (भरतमुनि) त्र्यस्र संज्ञक (त्रिकोणात्मक) नाट्यगृह का लक्षण कहूँगा ॥ १०१ ॥

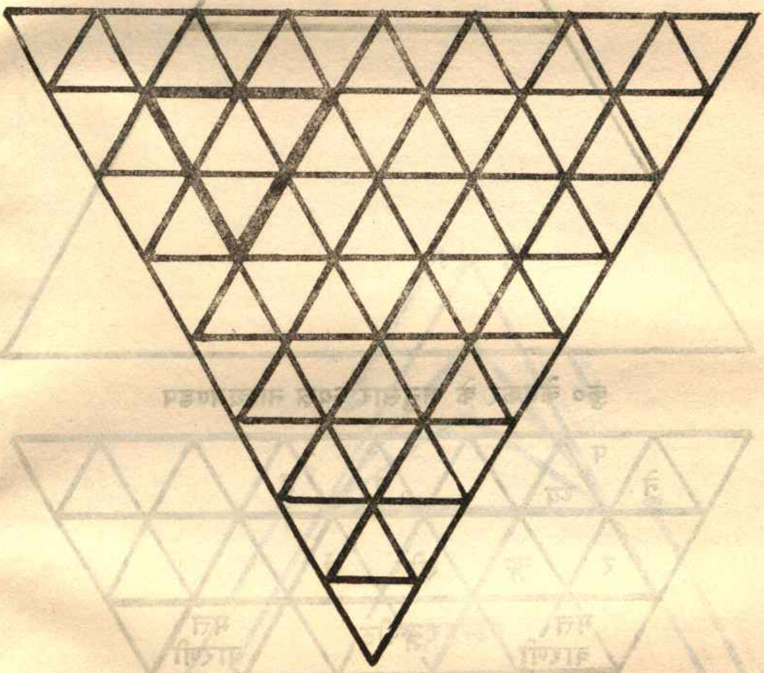
त्र्यश्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाटयवेश्म प्रयोक्तृभिः ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत् ॥ १०२ ॥

नाट्यगृह के प्रयोक्ताओं को चाहिए कि त्र्यस्र नाट्यगृह तीन कोनों वाला बनवाएँ । इसके बीच में रंगपीठ भी त्रिकोणात्मक ही होना चाहिए[1] ॥ १०२ ॥

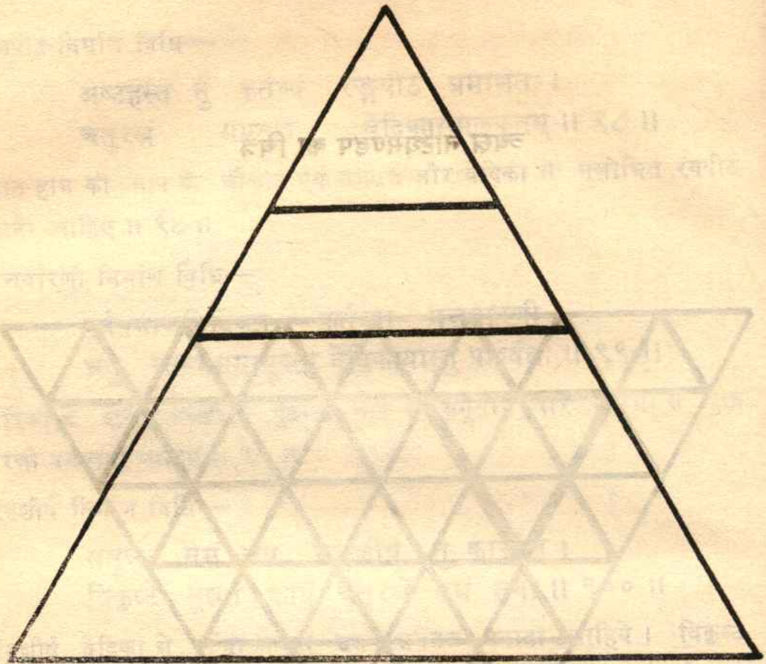
---

१. अभिनव की व्याख्या के अनुसार इसमें रंगशिर एवं नेपथ्य-गृह भी त्रिकोणात्मक होने अपेक्षित हैं "...मध्ये च त्रिकोणमेव रंगपीठम् । तथैव रङ्गशिरो नेपथ्यगृहं च ।" किन्तु इस कल्पना के अनुसार ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता ।

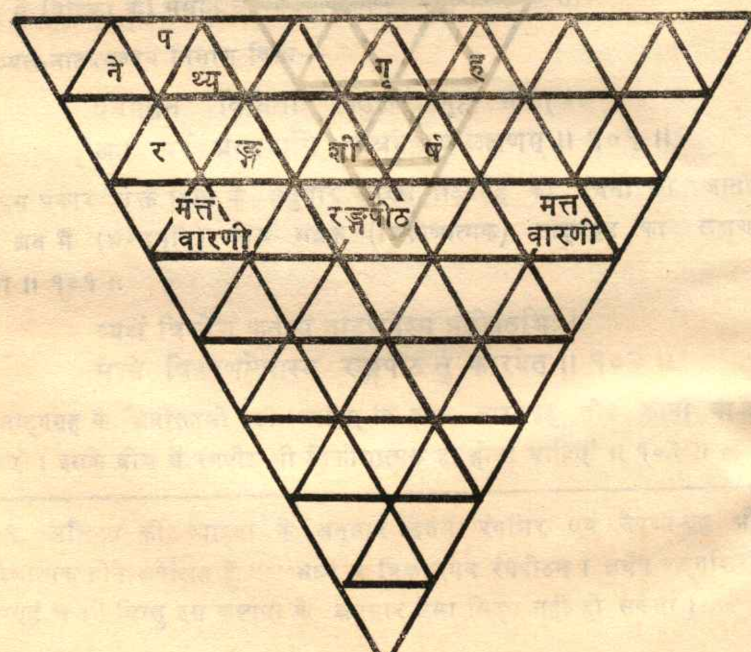
त्र्यस्र नाट्यमण्डप का चित्र



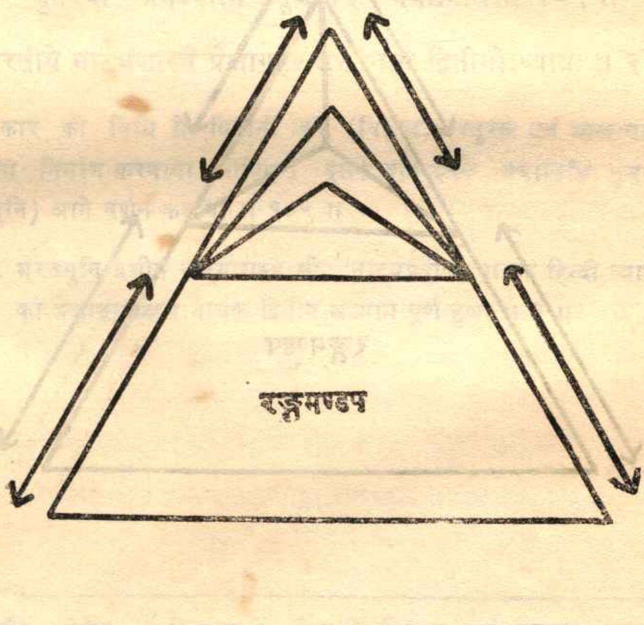
डा० घोष के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप



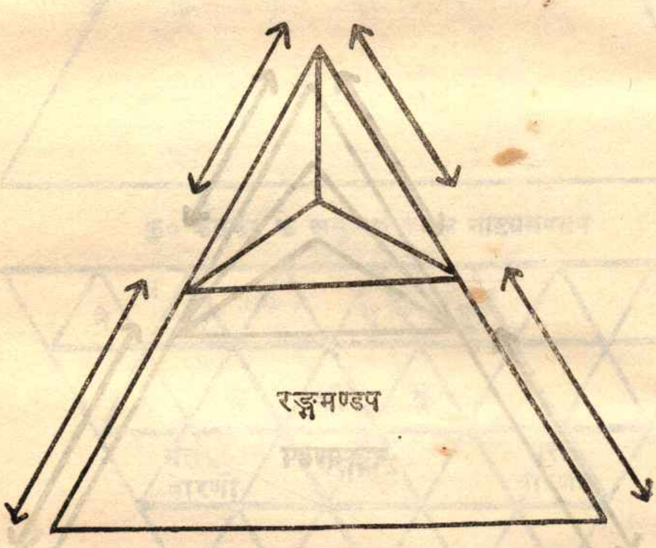
कु० केतकर के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप



आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप की प्रथम कल्पना



आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप की
द्वितीय कल्पना



द्वारं तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य वेश्मनः ।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः ॥ १०३ ॥

उस (त्र्यस्र) नाट्यगृह का द्वार भी उसी कोण में[1] होना चाहिए तथा रंगपीठ के पीछे की ओर दूसरा द्वार बनाना चाहिए ॥ १०३ ॥

विधिर्यश्चतुरश्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः ।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यस्त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ॥ १०४ ॥

चतुरस्र नाट्य-मण्डप (के प्रसंग) में भित्ति एवं स्तम्भों के (निर्माणादि के सम्बन्ध में) जो विधान दिये गये हैं उन सबका प्रयोग प्रयोक्ताओं को त्र्यस्र-मण्डप में भी करना चाहिए[2] ॥ १०४ ॥

उपसंहार—

एवमेतेन विधिना कार्या नाट्यगृहा बुधैः ।
पुनरेषां प्रवक्ष्यामि पूजामेवं यथाविधि ॥ १०५ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे प्रेक्षागृहलक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार की विधि से विद्वानों को (विकृष्ट, चतुरस्र एवं त्र्यस्र नामक) नाट्यगृहों का निर्माण करवाना चाहिए। इसके बाद इनके यथाविधि पूजन का मैं (भरत मुनि) आगे वर्णन करूँगा ॥ १०५ ॥

इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की 'नाट्यप्रदीप' नामक हिन्दी व्याख्या का प्रेक्षागृहलक्षण नामक द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ ॥ २ ॥

—*—

१. तेनैव कोणेन—उसी कोण में जैसा कि विकृष्ट एवं चतुरस्र मण्डप में बताया गया था, अर्थात् पूर्व की ओर, या सामने की ओर। यही बात अभिनवगुप्त भी कहते हैं—'तेनैव कोणेनेति ऐन्द्रीगतेन।'

२. श्री घोष ने यहाँ ध्यान दिलाया है कि त्र्यस्र मण्डप के सन्दर्भ में मत्तवारणी बनाने का उल्लेख नहीं मिलता।